



# INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

## भारतीय ज्ञान परंपरा के आलोक में गुरु शिष्य सम्बन्ध

प्रो. लीना सक्करवाल

शिक्षाशास्त्रविद्याशाखा

सह-अधिष्ठात्री

(छात्रकल्याण एवं समकालीन अध्ययन तथा विषय)

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय

जनकपुरी, नई दिल्ली

**सारांश:** 'गिरति अज्ञानान्धकारम्' इति गुरुः -अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरु कहलाता है। गुरु तत्व का सम्मान करने वाली भारत देश की इस धरती पर भारतीय ज्ञान परंपरा को पोषित करने वाली प्राचीन शिक्षा व्यवस्था विश्व की सर्वोत्तम शिक्षा व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। यह ज्ञान के आदान प्रदान की एक ऐसी सशक्त व्यवस्था रही है जिसने इस देश को चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, पाणिनि, पतंजलि, चाणक्य, गौतम, पिंगला, थिरुवल्लुवर इत्यादि जैसे उच्च कोटि के ऋषि, वैज्ञानिक, गुरु तथा शिष्य प्रदान किए, जो आज भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली को प्रेरित कर रहे हैं। भारतीय शिक्षा प्रणाली का यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ ज्ञान को सदा से ही सर्वोपरि माना गया है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ज्ञान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं मानते न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। उसी ज्ञान के आदान प्रदान हेतु प्राचीन भारत में गुरुकुलीय शिक्षा व्यवस्था विद्यमान थी जहाँ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूरगामी क्षेत्रों से आते थे। सर्वोत्कृष्ट शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त कर सम्पूर्ण विश्व में अपना परचम लहराते थे। शिक्षा के मेरूदण्ड के रूप में विद्यमान सर्वोत्तम शिक्षकों के साथ छात्र का संबंध पितापुत्रवत् था जहाँ पितारूपी गुरु अपने पुत्ररूपी शिष्य को सिखाए गए ज्ञान, कौशल इत्यादि से पराजित होना चाहता था, **शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्** अर्थात् अपने शिष्य को अपने से भी ज्यादा योग्य, कुशल, दक्ष बनाने हेतु अथक प्रयास करता था। प्रस्तुत शोध पत्र में प्राचीन गुरुकुल व्यवस्था में छात्र के व्यक्तित्व निर्माण में गुरु-शिष्य संबंध की जो महनीय भूमिका थी, उसका विश्लेषण किया गया है। विविध शास्त्रों, ग्रंथों तथा काव्यों के दृष्टान्तों द्वारा गुरुशिष्य संबंध के महत्त्व को वर्णित किया गया है। तथा उस निःस्वार्थ, निश्छल, परस्पर विश्वसनीय संबंध की पुनःस्थापना हेतु विमर्श किया गया है। साथ ही वर्तमान शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता में वृद्धि करने के उद्देश्य से प्राचीन गुरु-शिष्य संबंध की प्रासंगिकता तथा भारतीय ज्ञान परंपराओं के आदर्श नैतिक मूल्यों का पुनराह्वान किया गया है।

**मुख्यबिंदु-** राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२०, गुरु, शिष्य, गुरु-शिष्य संबंध, गुरुकुल व्यवस्था, भारतीय शिक्षा प्रणाली, भारतीय ज्ञान परंपरा, व्यक्तित्व निर्माण।

### प्रस्तावना-

राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२० के अनुसार शैक्षिक प्रणाली का उद्देश्य, “ऐसे अच्छे इंसानों का विकास करना है जो तर्कसंगत विचार और कार्य करने में सक्षम हों, जिनमें करुणा और सहानुभूति, साहस और लचीलापन, वैज्ञानिक चिंतन और रचनात्मक कल्पना शक्ति, नैतिक मूल्य, तथा आधार हो। इसका उद्देश्य ऐसे रचनाशील लोगों को तैयार करना है जो भारतीय संविधान द्वारा परिकल्पित समावेशी और बहुलतावादी समाज के निर्माण में उत्कृष्ट पद्धति से योगदान कर सकें”। नीति का यह कथन भारतीय ज्ञान परंपरा पर आधारित शिक्षा की पुनर्स्थापना का द्योतक है। प्राचीन भारत की शिक्षा एवं जीवन के मध्य एक अभिन्न संबंध रहा है तथा उस युग में शिक्षा को जीवन के लिए नितांत उपयोगी और सीखने की सतत प्रक्रिया माना गया जाता रहा था। शिक्षा के आदान प्रदान का आधार गुरुकुलीय व्यवस्था हुआ करती थी तथा गुरु के सान्निध्य में रहकर शिष्य जीवन के विविध आयामों की शिक्षाग्रहण किया करते थे। प्राचीन शिक्षाप्रणाली में शिक्षा के व्यापक लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए गुरु शिष्य को ज्ञान प्रदान किया करते थे, जो इन शिक्षणसूत्रों पर आधारित थे कि, “मुझे असत्य से सत्य की ओर उन्मुख करे, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर विश्वस्त करें। मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चले”, ये सिद्धांत इतने प्रभावशाली सिद्ध हुए कि युगों युगों तक उन्होंने भारतीय शिक्षा प्रणाली का नियमन किया। वस्तुतः ये सूत्र गुरुशिष्य संबंधों की पवित्रता तथा समर्पणता का सूचक है। भारतीय शिक्षा पद्धति में ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति को शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। भारतीय ज्ञान पद्धति का एक आधारभूत उद्देश्य शिष्य को सभी प्रकार की सीमाओं से और स्वयं से मुक्त कर ज्ञान की उस अवस्था तक पहुंचाना है जहाँ वे स्थायी रूप से विद्यमान वास्तविक ज्ञान और अमरत्व में विचरण कर सके। शिष्य के लिए इतने कल्याणपरक विचार रखने वाले सूक्ष्मदृष्टा ऋषि, वेदों, उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों के तत्व वेत्ता सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक व अनुसंधानकर्ता थे। भारतभूमि के इन आत्मज्ञानी ऋषियों ने अपना संपूर्ण जीवन और ऊर्जा मनुष्य के मानस के अध्ययन में समर्पित कर दी। ताकि आज भी मनुष्य अपनी सीमाओं और बाधाओं को पार कर मुक्त हो जाए। महर्षि अरविंद कहते हैं, “प्राचीन भारत के दृष्टाओं ने अपने अनुसंधान में आध्यात्मिक प्रशिक्षण और शरीर के विषयों पर विजय प्राप्त करने के लक्ष्य में, ऐसी खोज में सिद्धि पाई जो भविष्य में मनुष्य के ज्ञान के समक्ष न्यूटन और गैलीलियो को भी बौना साबित कर देती है। यहाँ तक कि विज्ञान की आगमनात्मक और अनुसंधानात्मक पद्धति भी इनकी तुलना में अपर्याप्त है”। ये प्राचीन दृष्टा जिन्हें 'ऋषि' की संज्ञा दी गई, जो भौतिक संसार में रहते हुए भी अपने केंद्रित और बौद्धिक रूप से उच्च आदर्शों में जीते थे। ये ऋषि ही थे जिन्हें शिक्षक कहा गया, जो गुरु, आचार्य हुए और पूज्य माने गए। ये ऋषि ही थे, जिनके सम्मुख शिष्य शिक्षा, ज्ञान और प्रशिक्षण के लिए जाते थे। गुरु-शिष्य के प्राचीन संबंधों का निर्धारण उनके द्वारा विकसित ज्ञान प्राप्ति, जीवन के लक्ष्य और अर्थ और मानस की सिद्धि के अनुशासन और अभ्यास प्रक्रियाओं के माध्यम से होता था। विश्वामित्र, वशिष्ठ, वामदेव, भारद्वाज, मधुच्छांदस, दीर्घतमस, गृतसमद, मेधातिथि जैसे वैदिक ऋषियों के नाम आज भी प्रतिध्वनित होते हैं और उनके प्रति हमारे हृदय में आदर एवं श्रद्धा का भाव सदैव विद्यमान रहता है।

### प्रस्तुत शोधपत्र के उद्देश्य –

- भारतीय ज्ञान परंपरा की अवधारणा का परिचय प्रदान करना।
- प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की संकल्पना को स्पष्ट करना।
- 'गुरु' की अवधारणा को स्पष्ट करना।
- गुरु-शिष्य संबंध के ज्ञानाधारित वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करना।
- प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली की उपादेयता को स्पष्ट करना।
- वर्तमान समय में गुरु शिष्य संबंध की चुनौतियां तथा संबंध की सुदृढ़ता हेतु संभावनाओं का उल्लेख करना।

### शोधप्रविधि-

प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन में द्वितीय स्रोत के रूप में पुस्तकों, शोध पत्रिकाओं, शोधसाहित्य, तथा अंतर्जालीय सामग्री का प्रयोग किया गया है।

## भारतीय ज्ञान परम्परा का परिचय-

भारतीय ज्ञान परंपरा, भारतीय जीवन की पोषक है, जिसमें निरंतर मनुष्य को चलते रहने की अर्थात् जीवन में निरंतर आगे बढ़ने की प्रेरणा **चरैवेति चरैवेति** के औपनिषदिक वाक्यों के रूप में प्रदान की गई है। इन ज्ञान परंपराओं के आधारभूत ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, दर्शन इत्यादि के वाक्य सदा से ही मनुष्य को जीवन पथ पर अग्रसर होने को प्रेरित करते रहे हैं। उपनिषदों का संदेश, **“उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत”** मानव को उठने, जागने तथा अपने श्रेष्ठ तत्वों को प्राप्त कर ज्ञानवान होने की ओर इंगित करती है। भारत की यह परंपरा वैदिक काल से ही मानव को गतिशील रखते हुए जीवन के रहस्यों को जानने का संदेश भी देती है। प्रायः संपूर्ण प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट आभास होता चलता है कि वैदिक मनीषियों के लिए संपूर्ण प्रकृति ही एक खुली पुस्तक के समान है और खुली पुस्तक ही उनके अध्ययन की सामग्री है। अध्येता को इस संपूर्ण को जानने की इच्छा से युक्त होना चाहिए। व्यक्ति को क्षण प्रतिक्षण इसका अध्ययन करते हुए स्वाध्याय में लीन रहना चाहिए। **तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में** भी कहा गया है **स्वाध्यायान्मा प्रमदः।** इसी प्रकार **काशिका बाल मनोरमा** में भी **यावज्जीवित तावदधीते** कहकर जब तक जीवन है तब तक निरंतर अध्ययन करते रहने की प्रेरणा दी है। ऋग्वेद सहित विभिन्न संहिताओं, ईश, छान्दोग्य, केन, कठ, प्रश्न तैत्तिरीय आदि विभिन्न उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणग्रंथों, विशेषतया शतपथब्राह्मण धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों, स्मृतिग्रंथों, दर्शनशास्त्रों, पुराणों तथा लौकिक साहित्य आदि में इस स्वाध्याय के महत्त्व एवं इसकी आवश्यकता की चर्चा भिन्न भिन्न रूपों में की गयी है। एतदर्थ भारतीय परंपरा शिक्षा को किसी एक काल खण्ड तक सीमित करने की अपेक्षा इसे आजीवन प्रक्रिया मानने की बात कही गयी है। जिसमें ज्ञानार्जन को विशिष्ट स्थान दिया है, जिसे निरंतर स्वाध्याय से प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्राचीन भारतीय वाङ्मय की ज्ञान परंपरा इस बात की निरंतर स्पष्ट अनुभूति कराती चलती है कि संपूर्ण जीवन के अभिन्न अंग के रूप में शिक्षा व्यक्ति के व्यष्टि रूपी अर्थात् वैयक्तिक विकास को समष्टि अथवा सामूहिक या सामाजिक विकास के रूप में ही देखती है। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय का प्रारंभ व अंत कल्याण भावना से ही अभिव्यक्त होता है। यह लोक कल्याण की दृष्टि ही भारतीय ज्ञान परंपरा के विस्तार की द्योतक है।

## प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली –

प्राचीन काल में गुरुकुल ऐसे विद्यालय थे जहाँ विद्यार्थी अपने परिवार से दूर होकर गुरु के परिवार का हिस्सा बनकर शिक्षा प्राप्त करता था। यही कारण है कि विद्यार्थी को **'अंतेवासिन'** संज्ञा दी गई थी, जिसका अर्थ होता था कि जो गुरु के समीप रहकर विद्यार्जन करें। **छान्दोग्योपनिषद्** में शिष्य को **आचार्यकुलवासिन** की संज्ञा दी गयी है। अर्थात् जो गुरु के घर में निवास करें। गुरुशिष्य संबंध की नींव गुरुकुल के नियमों पर आधारित थी जहाँ शिष्य को कठोर अनुशासन का पालन करना होता था। **चरकसंहिता** के **विमानस्थान** के **अध्याय आठ** में यह स्पष्ट रूप से लिखा गया है कि एक शिष्य को किस प्रकार का होना चाहिए। उसे शांत स्वभाव वाला, आदर्श गुणों से युक्त, स्पष्ट उच्चारण वाला, उपयुक्त ओष्ठ, जिह्वा नासिक आदि इंद्रियों वाला, मेधावी, तीव्र स्मृति वाला, चिंतनशील, वाग्पटु, सरल एवं पवित्र चित्त वाला, अध्ययनशील, तर्कशील, परिश्रमी, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। गुरुकुल के विषय में ए. एस अतलेकर ने अपनी पुस्तक एजुकेशन इन एशियंट इंडिया में कहा है कि- **“It is clear from the passage that the gurukula system requiring the students to pass his direct personal supervision was preferred because It better facilitated studies toned down personal. Idiosyncrasies and helped students to become more resourceful and self reliant and better acquainted with the world.”** - ( Education in ancient India, A.S Atlekar)

गुरुकुल शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी सदैव गुरु के सांनिध्य में रहता था तथा गुरु उसका सतत अवलोकन करते थे। गुरु की निगरानी में रहने का लाभ यह होता था कि विद्यार्थी धीरे धीरे आत्मनिर्भर व्यवहार में परिष्कार, स्रोतपूर्ण तथा संसार की नियम के तौर तरीकों से बेहतर परिचित हो पाता था। **आचार्य विद्यानिवास मिश्र जी ने बहुत ही स्पष्ट रूप से यह उद्धोषित करते हुए कहते हैं कि पूरी पाठशाला ही एक प्रयोगशाला थी और जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों को शक्ति संपन्न बनाना केवल शारीरिक रूप से नहीं वरन मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्ति से भी** जातकों ह्येनसांग इत्यादि की यात्रा विवरण तथा अन्य अनेक संदर्भों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में विकसित गुरुकुल के रूप में विश्वविद्यालय जैसे तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी इत्यादि में विद्यार्थी यहाँ विश्वविख्यात अध्यापकों से पढ़ने आया करते थे।

## ‘गुरु’ की अवधारणा

भारतीय संस्कृति में गुरुशिष्य परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही वह परंपरा है जिसमें गुरु अपना संपूर्ण ज्ञान शिष्य को प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं। गुरुशिष्य संबंध की इस परंपरा में ‘गुरु’ शब्द के अर्थ को जानना बेहद आवश्यक हो जाता है। व्युत्पत्ति से प्रारंभ करें तो गुरु शब्द गृ धातु तथा रु प्रत्यय के सहयोग से निष्पन्न हुआ है। संस्कृत वाङ्मय में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। श्रीवामन शिवराम आपटे के संस्कृत हिंदी शब्दकोश के अनुसार इस गुरु शब्द का प्रयोग गरिष्ठ, प्रशस्त, विस्तृत, दुःसाध्य, प्रचंड, श्रद्धेय, अभिष्ट शिक्षक, आध्यात्मिक गुरु, आश्रम-प्रमुख इत्यादि विभिन्न अर्थों में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से गुरु प्रायः शिक्षार्थी में ज्ञान का सिंचन करते हुए अज्ञान को दूर करता है, ज्ञान हेतु क्रियाशील बनाते हुए उसे विश्लेषणात्मक अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न करता है। ‘गिरति सिञ्चति करणयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः’। अर्थात् जो कानों को ज्ञान रूपी अमृत से सींचे वह गुरु कहलाता है। इसी प्रकार गुरु की एक और अन्य परिभाषा प्राप्त होती है। गृणाति धर्मादिरहस्यमिति, गुरुः, धर्म आदि के रहस्य को स्पष्ट करने वाला गुरु होता है। गिरति अज्ञानान्धकार मिति गुरुः अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरु कहलाता है। गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यमिति गुरुः अर्थात् वेदादि शास्त्रों के रहस्यों का विश्लेषण करते हुए इन्हें स्पष्ट करने वाला गुरु कहलाता है। इस प्रकार गुरु शब्द के विभिन्न अर्थों को देखकर शिक्षा प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों के भाव प्रकट होते हैं जैसे शिक्षा माने ज्ञान की प्राप्ति, शंकाओं को दूर करना तथा धर्म आदि से संबंधित शास्त्रों के मूल तत्वों के वास्तविक स्वरूप को समझना, जानने की प्रक्रिया शिक्षा है। प्राचीन काल में गुरु शिक्षा प्रदान करने हेतु विभिन्न प्रकार की भूमिका का निर्वहण करते थे। अतः उनके लिए अलग अलग शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे गुरु के लिए षड् नामों का उल्लेख प्राप्त होता है- प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षकों तथा बोधक ये षड् नाम थे। गुरु चाहे जिस भी भूमिका का निर्वाह करे किंतु शिष्यों को ज्ञान से अवगत कराना उनका परम उद्देश्य होता था। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए ज्ञान को ग्रहण करना ही शिष्य का दायित्व होता था। शिक्षा की इस प्रक्रिया में मूलतः छात्र ही केंद्र थे और इस प्रक्रिया में गुरु का अर्थात् आचार्य का विशिष्ट स्थान होता था। तैत्तरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में विद्या सम्बन्धी परिचर्चा प्रारंभ करते हुए कहा भी गया है कि आचार्य इस विद्या के आदान प्रदान की प्रक्रिया में आचार्य पूर्वरूप है और शिष्य उत्तर रूप, विद्या इन दोनों की संधि है और प्रवचन ही संधान अर्थात् ज्ञान का मार्ग है। इसी प्रकार आचार्य शब्द को भी परिभाषित किया गया है। आचिनोति ही शास्त्राणि स्वाचारे स्थापत्यपि आचारयति तं लोके तमाचार्यं प्रचक्ष्यते। अर्थात् प्राप्त किए गए ज्ञान को आदर्श के रूप में व्यवहार में प्रदर्शित करना ही आचार्यत्व का लक्षण है, जो हमें प्राचीन गुरुकुल शिक्षा पद्धति के अंतर्गत गुरुओं में भी प्राप्त होता था।

## गुरु-शिष्य संबंध का विश्लेषणात्मक चिन्तन

वेदों तथा उपनिषदों की प्रारंभिक मौखिक परंपराओं में गुरु-शिष्य संबंध प्राचीन भारतीय शिक्षा के मूलभूत घटक के रूप में विकसित हुआ था। उपनिषद् शब्द की उत्पत्ति ही संस्कृत के ‘उप’ अर्थात् समीप, नीचे (नीचे) और सद् (बैठना), अर्थ से हुई जिसका तात्पर्य है कि निर्देश प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक शिक्षक के पास बैठना। वस्तुतः गुरु शिष्य परंपरा आध्यात्मिक प्रज्ञा को नई पीढ़ियों तक पहुंचाने का सोपान है। भारतीय संस्कृति में गुरु शिष्य परंपरा के अंतर्गत गुरु अपने शिष्य को जो शिक्षा देता है या कोई विद्या सिखाता है बाद में वही शिष्य गुरु के रूप में अन्य शिष्यों को सिखाता है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। यह परंपरा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है और गुरु-शिष्य की यह ज्ञान परंपरा आधुनिक समय में भी संगीत, कला, वेदाध्ययन, क्रीडा, कौशलाधारित क्षेत्रों में आज भी दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन काल में गुरु और शिष्य के संबंधों का आधार था गुरु का ज्ञान, मौलिकता, नैतिक बल तथा उनका शिष्यों के प्रति स्नेह, भाव और ज्ञान प्रसार का निस्वार्थ भाव। गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा गुरु की क्षमता में पूर्ण विश्वास, समर्पण, आज्ञाकारिता, अनुशासन शिष्य का सबसे महत्वपूर्ण गुण माने जाते थे। गुरु शिष्य के मध्य केवल शाब्दिक ज्ञान का ही आदान प्रदान नहीं होता था अपितु गुरु अपने शिष्य के संरक्षक के रूप में अपनी भूमिका बखूबी निभाता था। शिष्य का यही विश्वास गुरु के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा और समर्पण का कारण रहा है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने गुरुशिष्य परंपरा को परम्पराप्राप्त योग बताया है। ज्ञान परम्परा की यह यात्रा सांसारिक ज्ञान से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक शाश्वत आनंदपर्यंत प्राप्ति तक की है, जिसमें गुरु पूरी निष्ठा से अपने शिष्य को उस आनंद प्राप्ति की ओर लेकर जाता है। गुरु शिष्य का संबंध सम्बन्ध ज्ञान की चेतना पर आधारित होता है। गुरु शिष्य की चेतना के उन आयामों को स्पर्श करते हैं जहाँ कोई साधारण व्यक्ति नहीं जा सकता। वे शिष्य की चेतना को महत्तम ऊंचाइयों तक पहुंचाने के लिए हर संभव प्रयास करते हैं।

आज वर्तमान युग में गुरु शिष्य संबंध की इसी परंपरा को मेंटरशिप के रूप में भी परिभाषित किया जा रहा है। जिसके अंतर्गत में मेंटी और मेंटर, व्यक्तिगत कौशल और अनुभवों को साझा करने के लिए एक दूसरे से मिलते हैं। इसके मूल में गुरु शिष्य संबंध ही है और कई दक्षिण एशियाई संस्कृतियों में यह बहुतायात में प्रचलित है। आधुनिक भाषा में गुरु को क्रीडा क्षेत्र में कोच भी कहा जाता है। आज भारत सरकार, संस्कृति मंत्रालय ने शास्त्रीय / लोक /आदिवासी कला के दुर्लभ और लुप्त हो रहे रूपों को भी संरक्षित करने और उनको बढ़ावा देने के लिए क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्रों के माध्यम से **गुरु-शिष्य परंपरा योजना नामक एक योजना**, जिसका प्रारंभ २००३-०४ से हुआ ताकि युवाप्रतिभाओं को गुरुजनों के कुशल मार्गदर्शन में कला के अपने चुने हुए क्षेत्र में कौशल हासिल करने के लिए पोषित किया जा सके। वस्तुतः इस संसार में जितनी भी विधाएं हैं, वे गुरुकृपा से ही प्राप्त होती हैं। गुरु भक्ति से ही गुरु शक्ति को आत्मसात किया जा सकता है। और प्रायः यह देखा जाता है कि विभिन्न अनुशासनों में गुरु की महिमा का महत्वपूर्ण स्थान है। रीतिकाल की नीति कवि वृन्द ने गुरु के महात्म्य को अत्यधिक गरिमा मंडित करते हुए लिखा, **श्री गुरु नाथ प्रताप तै होत मनोरथ सिद्धि। घन तैं ज्यौं तरु,बेलि ,दल ,फूल फ़लक की वृद्धि।** अर्थात् गुरु कृपा सर्वतोमुखी है, बहुमुखी है, वह संपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने वाली होती है। इसी प्रकार गुरु महिमा की संबंध में अनेकों दोहे हिंदी साहित्य में प्राप्त होते हैं कबीर का यह दोहा आज भी गुरु महिमा में गाया जाता है **गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांया बलिहारी गुरु अपने गोविन्द दियो बताया** संस्कृत भाषा में भी गुरु की शक्ति का वर्णन करते हुए। उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों की संज्ञा दी गई है।

समूचे विश्व में यदि कोई सर्वश्रेष्ठ पद और पुरस्कार है तो वह 'गुरु' का पद है। गुरु-शिष्य संबंध से पवित्र और कोई संबंध नहीं। क्योंकि यह निःस्वार्थ भाव का संबंध है। शिष्य की आत्मिक उन्नति का संबंध है। शिष्य की आध्यात्मिक चेतना को ऊंचाइयों तक पहुंचाने का कार्य गुरु शिष्य संबंध के माध्यम से ही किया जाता रहा है। गुरु की पूजा वस्तुतः किसी व्यक्ति की पूजा नहीं है, वह उस ज्ञान का आदर है जो एक गुरु परंपरा से आने वाली पीढ़ी को प्राप्त होता है।

प्राचीन काल में गुरु शिष्य संबंध के अनेकों ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वर्तमान शिक्षा प्रणाली संशोधनार्थ मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर- **सांदीपनी ऋषि, जिन्होंने वेद, उपनिषदों का ज्ञान देकर कृष्ण को युग पुरुष बना दिया।** कहा जाता है कि कृष्ण ने उन्हीं सांदीपनी ऋषि के आश्रम में ६४ दिनों में ६४ कलाएं सीखीं और गुरु-शिष्य संबंध का यह प्राचीन काल में एक अनूठा उदाहरण है। इसी प्रकार **द्रोणाचार्य और अर्जुन का संबंध -जिससे सभी सुपरिचित है द्रोणाचार्य ने अर्जुन को विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाया** और आज भी हम देखते हैं कि **खेलों के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए भारत सरकार खिलाड़ियों को अर्जुन पुरस्कार से सम्मानित करती है और कोच को तरुण आचार्य पुरस्कार देती है। चाणक्य का चंद्रगुप्त को अपने मार्गदर्शन से सम्राट बनाने का योगदान किसी से नहीं छिपा है।** उन्होंने उसे सम्राट बनाया और अखंड भारत की स्थापना की। इसी प्रकार यदि पाश्चात्य जगत् में देखें तो **अरस्तू जो कि सिकंदर के गुरु थे सिकंदर को विश्व विजेता बनाने का विचार उन्होंने ही उनके मन में परोया था। हेनरी मूरे और आइज़क न्यूटन का गुरु शिष्य संबंध भी सर्वविदित है।** न्यूटन, जिन्होंने अपना पूरा बचपन अकेले में बिताया, फिर पढ़ाई में भी कमजोर थे और ऐसे में दर्शन शास्त्र के शिक्षक हेनरी मूरे ने उनका उत्साह बढ़ाया और उनके सान्निध्य में ही न्यूटन का आत्मविश्वास बढ़ा और आगे चलकर उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में **गुरुत्वाकर्षण का नियम और गति के सिद्धान्त की खोज की महत्वपूर्ण खोजें की** जो किसी परिचय की मोहताज नहीं है। **स्वामी रामदास समर्थ और शिवाजी** जिन्होंने अपनी गुरु के मार्गदर्शन में हिंदवी स्वराज की स्थापना की और शिवाजी से छत्रपति शिवाजी बने। **रामकृष्णपरमहंस और स्वामी विवेकानंद**, का गुरु शिष्य संबंध जिन्होंने **गुलाम भारत को भी विश्वगुरु का दर्जा दिलाया।** आधुनिक युग में क्रिकेट की दुनिया के भगवान माने जाने वाले **सचिन तेन्दुलकर को उनके गुरु रमाकांत आचरेकर** ने तराशा। जिन्होंने सचिन को क्रिकेट क्रीडा के वो गुरु सिखाये जिसके कारण पूरा विश्व उन्हें मानता है। इस तरह प्राचीन काल से आधुनिक युग पर्यंत गुरु शिष्य परंपरा से बहुत सी ऐसी प्रतिभाएँ हुईं, जिन्होंने अपने कृत्यों से भारत भूमि को गौरवान्वित किया।

## गुरु-शिष्य परंपरा में ज्ञान का स्वरूप-

भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली का एक विलक्षण एवं महत्वपूर्ण आयाम है गुरु-शिष्य संबंध की परम्परा। इस परंपरा के माध्यम से ही शिक्षा व जीवन के मध्य अन्योन्याश्रित संबंध रहा है। शिक्षा को सदा से ही जीवन की उदात्तता, सौंदर्य एवं उत्कृष्टता का द्योतक माना गया है। इसके द्वारा ही देश तथा समाज अपनी संस्कृति की रक्षा करता है और सभ्यता के रथ को आगे बढ़ाता है। एक बालक की वैयक्तिक प्रगति, उसका शारीरिक, मानसिक और भावात्मक विकास तब तक भली प्रकार से संभव नहीं हो पाता जब तक वह उचित पद्धति से ज्ञान ग्रहण न करें। शिक्षा व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का शोधन और मार्गान्तरिकरण करके उसे समाज को एक सक्रिय सदस्य बनाती है जिससे वे अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन कुशलतापूर्वक कर सकता है। प्राचीन युग में शिक्षा जिसे ज्ञान शब्द से संबोधित किया जाता था, उसके उद्देश्यों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है, किंतु मंतव्य मनुष्य को उसकी पाश्चिक प्रवृत्ति से ऊपर उठाकर चेतनाओं की ऊंचाइयों तक ले जाना ही रहा है। उपनिषदों में इसी बात को वर्णित करते हुए लिखा **विद्ययाऽमृतमश्नुते** अर्थात् विद्या (शिक्षा) से या यूँ कहे ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है। और यह अमरत्व तभी संभव हो पाता है जब सभी प्रकार के बंधनों व दुखों से मुक्ति मिल जाए। जो केवल आत्मा की वास्तविक प्रकृति को जानकर ही हो सकता है। इस प्रकार **प्राचीन शिक्षाप्रणाली का मूल विषय आत्मज्ञान** था। जिसे गुरु शिष्य परंपरा द्वारा हस्तांतरित किया जाता था। कठोपनिषद में ही इस आत्मज्ञान के विषय में उल्लिखित है कि- **“आत्मा सभी में छिपा हुआ है और इसलिए वे वह प्रकट दिखाई नहीं देता परंतु दिव्यदृष्टि व तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा इसे देखा जा सकता है”**। प्राचीन ऋषियों, मनीषियों तथा विचारकों के लिए यह **आत्मानुभूति ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य** था। आत्मज्ञान या सत्य का उनके लिए कोई पृथक अस्तित्व नहीं था, अपितु यह उस परम लक्ष्य की विस्तृत इकाई थी जिसमें तथ्य एवं प्रतिभास( दृष्टिगत वस्तु) की बहुलता में भी एक विशेष एकरूपता थी। चेतना की वह अवस्था जिसमें एकात्मकता की वास्तविकता सम्मिलित थी, वह अविचलित एवं अविनाशी अमरता की अव्यवस्था थी, जिसे **तैत्तरीयोपनिषद् में आनंद के रूप में वर्णित** किया गया है – **“आनंद से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसी फलस्वरूप में जीवित रहते हैं मृत्यु के उपरांत उसी में विलीन हो जाते हैं जो व्यक्ति इस आनंद को प्राप्त कर लेता है वह वाणी एवं मन में मन से अगम्य उस ब्रह्मानंद को जान लेता है उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता”**। ( ब्रह्मानन्द वल्ली-९)

**वेदों तथा उपनिषदों में वर्णित आनंद कोई बाह्य वस्तु नहीं** अपितु यह प्रत्येक व्यक्ति में अंतर्निहित , अविच्छिन्न है। हमारा संपूर्ण जीवन इसी आनंद से ही परिपूरित होता है। इसी विचार को बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य द्वारा मैत्रेयी को दिए गए प्रबोध में दर्शाया गया है कि- **“जैसे पति पत्नी पुत्र धन, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, लोक, देव प्राणी तथा सभी वस्तुएं अपने आप में प्रिय नहीं होती अपितु उनमें हम अपने आत्मतत्त्व को देखते हैं अर्थात् आनंद के दर्शन करते हैं तब यह हमें प्रिय लगती है”**। यद्यपि आनंद हम सब में अंतर्निहित है और आत्मतत्त्व का अविच्छिन्न लक्षण है, तथापि उसकी प्रतीति कर पाते। उस सत्य, परमतत्त्व या आनंद को इन्द्रिय सुखों में प्राप्त करना चाहते हैं, तो कभी भौतिक जगत के पदार्थों में, परंतु वास्तविकता की अनुभूति नहीं हो पाती। वास्तव में यह परमतत्त्व इंद्रियों की ग्राह्यता से परे है, अतीन्द्रिय है, फिर भी यह बुद्धि ग्राह्य है अर्थात् बुद्धि इस की ग्राह्यता में सक्षम है। विशुद्ध तर्क में सार है और इसके विकास से हम ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं, यद्यपि ब्रह्म सार से परे है, तथापि, ज्ञान प्राप्ति - विचारविमर्श और अनुसंधान दोनों के सहयोग से संभव है। आत्मतत्त्व के इन्हीं विभिन्न आयामों का अनावरण करने में प्राचीन शिक्षा के उद्देश्यों का क्रम निहित है। तथा इसी क्रमिक विकास और अनुसंधान के आधार पर वस्तुनिष्ठ तथ्यों, रहस्यों और फिर उस ब्रह्म के विषय में तर्क प्रस्तुत करने वाले वैदिक तथा औपनिषदिक शास्त्र कहते हैं कि- आत्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

**स्वामी विवेकानंद का कथन है- शिक्षा मनुष्य में निहित पूर्णता का विकास है** (Education is the manifestation of perfection which already exist in the man)। शिक्षा द्वारा व्यक्ति की क्रमशः प्रगति सम्भव हो पाती है। सहसा उच्चतम आत्मतत्त्व मूल्य की सम्प्राप्ति संभव नहीं, परंतु सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य आत्मतत्त्व की अनुभूति ही है। यही मानव जीवन का सत्य है, जिसे नगण्य नहीं किया जा सकता। तथापि क्रमशः विकास अपेक्षित है। विकास की इस प्रक्रिया में प्रायः मनुष्य सांसारिक विषयों में इस प्रकार फंस जाता है कि वह केवल अपने जीवन की भौतिक पक्ष को ही समुन्नत करने में संपूर्ण जीवन लगा देता है। वह केवल उदरपूर्ति परिवार के भरणपोषण, भौतिक सम्पदाओं के वर्धन तक ही सीमित रह जाता है। यद्यपि भौतिक पक्ष को सफल करना परम तत्त्व की प्राप्ति का प्रथम सोपान है, दूसरे शब्दों में मनुष्य के अन्नमय कोश का विकास, आत्मतत्त्व प्राप्ति का प्रथम सोपान है, तथापि परमतत्त्व को अनुभूत करने की यात्रा शेष है। वर्तमान शिक्षा व्यवस्था केवल मनुष्य के इसी प्रथम पक्ष अन्नमय कोश के संवर्धन की शिक्षा दे रही है और इसी कारण से मनुष्य सर्व संपन्न होने के बावजूद स्वयं को अधूरा व नीरस पाता है, क्योंकि शेष चार सोपान, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनंदमय कोश को विकसित करने या उस वास्तविक सत्य तक पहुंचने का वर्तमान शिक्षा

प्रणाली में कहीं कोई विधान नहीं। इन पांच कोशों के संवर्धन का विधान हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में भली भाँति निहित है। जिसे महर्षि पतंजलि की अष्टांग योग की शिक्षा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि से प्राप्त किया जा सकता है। प्रारंभिक भारतीय शिक्षाविदों ने केवल अन्नमय कोश के संवर्धन को अविद्या की संज्ञा भी दी है तथा शेष कोश विद्या की श्रेणी में आते हैं। यदि हम अपने प्राचीन शास्त्र, विशेषतः वेदों और उपनिषदों का भली भाँति अध्ययन करें तो हमें ये ज्ञात होगा कि इन शास्त्रों के ज्ञाता स्वयं सच्चे वैज्ञानिक और अनुसंधानकर्ता थे। इन द्रष्टाओं ने अपना संपूर्ण जीवन और ऊर्जा मनुष्य के अध्ययन में समर्पित कर दी ताकि हम सीमाओं और बाधाओं को पार कर मुक्त हो जाए। प्राचीन ऋषियों ने प्राचीन शिक्षाओं में यह पूर्ण रूप से स्पष्ट किया कि समस्त संसार जिस ईश्वरीय शक्ति से, परम तत्व से चलायमान है। उस परमतत्व को जाने बिना बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान क्रियाएं तुच्छ है। अतः बौद्धिक तर्कों से परे आत्मा और परम तत्व तक पहुंचने का साधन योग मात्र है। इन्हीं योग रूपी श्रेष्ठ विज्ञान के प्रणेताओं को वेदों तथा उपनिषदों ने अनेक नाम दिए हैं। ये ही वे अनुसंधानकर्ता थे जिन्हें ऋषि, ज्ञानी, द्रष्टा इत्यादि नामों से जाना जाता था। प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य संबंध इस बात पर निर्धारित था कि शिष्य की ज्ञान संबंधी जिज्ञासा, उसकी पिपासा, उनकी शंकाओं को गुरु किस प्रकार अपने ज्ञान विधियों, युक्तियों व प्रशिक्षण के माध्यम से, निवारण करता था तथा मानव सिद्धि के अनुशासन और अभ्यास प्रक्रियाओं को उनके जीवन में संलग्न करता था। गुरु शिष्य परंपरा की इसी ज्ञान प्राप्ति प्रक्रिया में गुरु शिष्य को वैयक्तिक रूप से प्रेरित करता था। वह प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी आवश्यकता, क्षमता एवं योग्यता के अनुरूप स्वयं की गति से विषय को समझने के लिए वातावरण प्रदान किया करता था और एक ही प्रकार कि शिक्षा, एक ही समय में, एक ही गति से किसी पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार नहीं दी जाती थी। वस्तुतः वेद और उपनिषद गुरु शिष्य परंपरा के मूल स्रोत है। उपनिषदों में शिष्य की कल्पना उस ज्ञानपिपासु के रूप में की गई, जिसमें ज्ञान प्राप्त करने की उत्कृष्ट अभिलाषा है। तथा इस हेतु विद्यार्थी की आयु सीमा का भी निर्धारण नहीं किया गया। केवल गुरु के प्रति समर्पण भाव की अपेक्षा की गई। ज्ञान प्राप्ति के प्रति पिपासा तथा दृढ़ संकल्प लौकिक पारलौकिक सत्ता के तत्व अन्वेषण में सहायक सिद्ध होती हैं, जिसके फलस्वरूप मानव आत्मशांति, आत्मसंतुष्टि तथा आत्म बोध को प्राप्त करता हुआ सच्चिदानंद स्वरूप परम परमेश्वर की सत्ता को प्राप्त करता है। ज्ञानं ब्रह्म अज्ञानम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (शुक्लयजुर्वेद २३/४५) इस श्रुतिवाक्य द्वारा महर्षि ने ब्रह्म की सत्ता और उसकी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर उसे अलौकिक तेज स्वरूप ज्ञानमय सत्ता संपन्न प्रतिपादित किया। महर्षि ऋषियों ने मानव मात्र को आशीर्वचन के रूप में निर्देश दिया कि- वह (शिष्य) ज्ञानी, तेजस्वी और रक्षक बनकर समाज उत्थान के लिए कार्य करते हुए यशस्वी हो। (अथर्ववेद ६/१३३/३) अतः बुद्धिमान मनुष्य सर्व शप्रथम अपने अंतःकरण में आत्मज्योति को प्रत्यक्ष करता है। (ऋग्वेद-३/२६/०८)

भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुरु शिष्य दोनों के विकास उत्थान की बात कही गई है। कठोपनिषद के ये सूत्र गुरु शिष्य संबंध को सुदृढ़ करने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं सहनाववतु सहनाववतु सह वीर्यं करवावहै। गुरु शिष्य साथ साथ एक दूसरे की रक्षा करें अर्थात् शिक्षक, शिक्षार्थी दोनों ही एक दूसरे के नैतिक विकास में सहायक हों। संभावित पतन से भी एक दूसरे की रक्षा करें। सह नौ भुनक्तु- वे दोनों साथ साथ उपभोग करें अर्थात् ज्ञान अर्जन से उपलब्ध सिद्धियों का उपभोग शिक्षक व छात्र मिलजुल कर करें। सहवीर्यं करवावहै- दोनों एक दूसरे के शौर्य की वृद्धि करें। तेजस्विनावधीतमस्तु- अध्ययन के फलस्वरूप तेजस्वी बने। मा विद्विषावहै- वह एक दूसरे से उन्नति से ईर्ष्या न करें। इस तरह के उपनिषद् में वर्णित प्रार्थनाएँ, गुरु शिष्य संबंध की संकल्पना को सुदृढ़ आधार प्रदान करती थी। गुरु ना केवल शिष्यों को सामाजिक, नैतिक मूल्यों की शिक्षा देते थे अपितु इन सब के आधारभूत आध्यात्मिक मूल्यों पर भी वे बल देते हुए शिष्य की अपार क्षमता जागृत करने का प्रयत्न करते थे। आध्यात्मिकता को विकसित करने के क्रम में योग पर विशेष बल दिया गया। शिष्य इस प्राचीन शिक्षा प्रणाली में अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा का निरंतर विकास करते हुए जीवन के उच्च आदर्श और ऊर्जा के अनंत भंडार का अनुभव करने में सक्षम हो पाता था। तथा सांसारिक विषयों में लिप्त न होकर साक्षी भाव से उनके प्रयोग का कौशल सीख पाता था।

भारतीय शिक्षा प्रणाली की गुरु-शिष्य परंपरा का एक महत्वपूर्ण आधार अनुशासन भी था। शिष्य का आत्म अनुशासन सुव्यवस्था का जनक था। जो उसको गुरु की आज्ञा पालनार्थ प्रेरित करता था। ऋग्वेद में कहा भी गया है- कि जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा का अनुपालन करता है, ठीक उसी प्रकार यजमान अग्निदेव का आदेश मानता है। (ऋग्वेद (१/६८/०५) आदेश अनुसार आचरण करना ही सुव्यवस्था है। जिसे महर्षियों ने शिष्ट व्यक्तियों के आचरण की संज्ञा दी है। शिष्टाचरण में विनीत भाव परिलक्षित होते हैं जिससे मानव समुदाय में विनम्रता, अभिवादन,

अभिनवशीलता, आज्ञापालन और वृद्धजन सेवा परायण आदि गुणों की अभिवृद्धि होती है। तथा इन गुणों के अनुपालन से ही श्रेष्ठ समाज का निर्माण होता है। इस स्वानुशासन की अवधारणा में शिष्य को अनुशासित रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य से तात्पर्य केवल शारीरिक इन्द्रियनिग्रह से नहीं अपितु ब्रह्मा की अनुभूति में सतत लगे रहने से था। इस अनुशासन से शिष्य का सकल विकास होता था और वह स्वयं को जानकर नियंत्रित करने का कौशल प्राप्त करता था। इस प्रकार के शिष्य को ब्रह्मचारी कहा जाता था, जो ब्रह्म का अनुसरण करने का व्रत लेता था। उसके संपूर्ण जीवन का ध्येय वाक्य में **व्रतं चरिष्यामि** अर्थात् मैं अपने प्रण का दृढ़तापूर्वक पालन करूँगा तथा सत्य, सौहार्द, प्रेम, दया, अहिंसा, परोपकार का अनुगमन ही ब्रह्मचर्य की अनुभूति के अनुशासन का एक भाग था।

**ऋग्वेद ,अथर्ववेद में शिष्य के महत्वपूर्ण गुणों का उल्लेख** प्राप्त होता है। इन गुणों से युक्त विद्यार्थी ही शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी होते थे। शिष्य का ज्ञान के प्रति जिज्ञासु, कर्मठ, प्रबुद्ध, आज्ञाकारी होना उसकी शिक्षा ग्रहण करने की अर्हता को दर्शाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी स्पष्ट लिखित है कि जो माता, पिता और आचार्य का भक्त तथा आज्ञाकारी है, वहीं योग्य शिष्य वहीं उच्च शिक्षा का अधिकारी है। **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव।** (तैत्तिरीयोपनिषद् १.११.०२) शिष्य के इन गुणों का आधार अनुशासन व संस्कार थे। जिसके अंतर्गत वे स्वाध्याय द्वारा विषय में दक्ष हो पाता था। **विष्णुपुराण में** स्वाध्याय के फल को व्यक्त करते हुए कहा गया है स्वाध्याय ज्ञान से तेजस्वी तभी बन सकता है जब हम ज्ञान की ज्योति को निरंतर प्रज्वलित रखें। (विष्णुपुराण ६/६/१) उपनिषद् वाक्य भी यही प्रमाणित करता है **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, स्वाध्यायानमा प्रमद ( बृहदारण्यकोपनिषद् १/१/१)** स्वाध्याय द्वारा शिष्य अपने विचारों, स्मृति एवं कल्पनाओं का असीमित विकास करने में सक्षम हो पाता है। उसके फल को निश्चित कर उसकी अनिवार्यता बताते हुए **आचार्य मनु** कहते हैं -पूर्ण पवित्रता के साथ संयमित जो व्यक्ति एक वर्ष एक विधि पूर्वक स्वाध्याय करता है, उसे दूध, दही, घी, मधु उपलब्ध होता रहता है अर्थात् जिस प्रकार दूध, दही, घृत और मधु सेवन करने वाले व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वस्थ हो आनंद का अनुभव करता है। इसी प्रकार स्वाध्याय में आसक्त हो व्यक्ति अपनी चहुंमुखी विकास को प्राप्त होता हुआ आनंदविभोर रहता है। (मनुस्मृति २/१०७)

मौखिक परंपराओं की प्रधानता, स्मृति के विकास, दर्शन और अध्यात्म के अनुशासन श्रेष्ठ विचारों के सृजन में सहायक होते थे। **ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय** का यह वाक्य उपरोक्त बात को प्रमाणित करता है- **आत्मा वा रे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निधिध्यासितव्यः (ब्रह्मसूत्र १/१/२३)**

गुरु-शिष्य परंपरा का यह समय गुरुकुल में प्रकृति के सान्निध्य में शिष्य को अंतरसंवाद, अंतर्मुखी, कल्पना प्रधान और असीम आनंद प्राप्त करने में सक्षम बनाता था। गुरुकुल का यही वातावरण जहाँ गुरु प्रत्येक शिक्षक शिष्य पर विशेष ध्यान देने के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार से छात्रों से विविध माध्यमों से स्वयं को जोड़ता था। वहीं शिष्य भी पूर्ण समर्पण भाव से गुरु के सान्निध्य में रह कर ज्ञानार्जन किया करते थे। संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न ग्रंथों, शास्त्रों में गुरुकुल परंपरा, ऋषियों का सम्मान, इनके सर्वत्र पूजनीय होने के प्रमाण मिलते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महर्षि कण्व, रामायण, महाभारत के महर्षि वाल्मीकि, गुरु द्रोणाचार्य इस गुरुकुल परंपरा के सटीक उदाहरणों में से है। इसके अतिरिक्त वैदिक ऋषि विश्वामित्र, वशिष्ठ, वामदेव, भारद्वाज, मधु, छान्दस, दीर्घतमा, गृत्समद और मेधातिथि जैसे महान ऋषियों के नाम आज भी प्रतिध्वनित होते हैं और उनके प्रति हमारे हृदय में आदर एवं श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हैं।

वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जिसमें गुरुकुल में गुरु के मार्गदर्शन में विद्यार्थी के होने का विधान था। उन गुरुओं व ऋषियों का विशेष महत्त्व था। वे ऋषि दृष्टा थे जिन्होंने जीवन को पूर्णता से जिया था। गुरु के महत्त्व को दर्शाते हुए आगम तंत्रसार में गुरु शब्द में गकार ज्ञान, संपत्ति का रेफ, सत तत्व और उकार शिवतादात्म्य का बोधक है। वह सच्चिदानंद स्वरूप है, अतः उसका ध्यान परमावश्यक है। गुरुकुल व्यवस्था में न केवल शिष्यों को गुरु का सान्निध्य प्राप्त होता था, अपितु आश्रम में उनके साथ रहते हुए उन्हें भौतिक सुविधाएं भी प्राप्त की जाती थी। तथा शिष्य उस व्यवस्था के अभिन्न अंग हुआ करते थे। गुरु न केवल अपने द्वारा दिए गए निर्देशों से शिष्य को भौतिक संसार में रहने की कला में दक्ष करता था, अपितु मनुष्य में व्याप्त अपार ऊर्जा को जागृत भी करता था। संपूर्ण शिक्षा की केंद्र में मानसिक शांति व आत्मकेन्द्रित होने की शक्ति में कौशल प्राप्त करना था। शिक्षा की यह प्रणाली शिष्य को भीतर से पूर्ण स्वतंत्र होकर विषय चयन- श्रेयस और प्रेयस के मध्य स्वतंत्र चयन के पर्याप्त अवसर प्रदान करती थी। इस प्रकार की चयन की स्वतंत्रता तथा आध्यात्मिक अनुभव की स्वतंत्रता शिक्षा प्रणाली की उच्चतम गुणवत्ता को प्रस्तुत करती है। इस शिक्षा प्रणाली में गुरु को असीमित सम्मान प्राप्त था। मानव के रूप में साक्षात् वेद का ज्ञान आभाषित करता था। इसलिए गुरु को साक्षात् परमात्मा मानकर उसकी एवं उसकी वाणी की परम निष्ठा से आराधना करने की बात श्रीमद्भागवत पुराण के ११वें स्कंध में कही गई है- **आचार्य या विजानीयात नावमच्येत कर्हिचित्। न मर्त्यर्बुद्धया सूर्येत् सर्ववेदमयो गुरुः।।** शिष्य को सदैव उचित मार्ग पर

चलने की प्रेरणा देता था। सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। तैत्तरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक)और तुम कभी सत्य, कर्तव्य, कल्याण, संपन्नता, अपने अध्ययन और सत्य के प्रति अपने समर्पण को लेकर उपेक्षाकारी मत बनो। इस तरह विविध उद्धरणों के माध्यम से गुरु-शिष्य परम्परा की सार्थकता तथा उपादेयता को प्रतिपादित किया गया है।

### वर्तमान काल में गुरु शिष्य संबंध की चुनौतियां-

गुरु शिष्य परंपरा के इतने उत्कृष्ट स्वरूप होने के बावजूद वर्तमान काल में इस पवित्र संबंध को विभिन्न चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है-

- आज शिक्षक-छात्र में परस्पर विश्वास की न्यूनता दिखाई पड़ती है। जिसके कारण शिष्य की अवगमनक्षमता प्रभावित है। आज बहुतायत में छात्र मात्र सूचनाओं को रटते हैं एतदर्थ विषय की गहरी समझ का अभाव दिखाई पड़ता है।
- सूचना संचार के इस युग में विद्यार्थी सूचनाओं का संकलन किसी भी तकनीक के माध्यम- जैसे संगणक, मोबाइल, लैपटॉप इत्यादि के द्वारा कर सकता है। अतः शिक्षक की उपस्थिति को छात्र गंभीरता से अब नहीं लेते हैं। इस कारण इस संबंध की गरिमा प्रभावित हुई है।
- आज शिक्षा उद्योग प्राप्ति का साधन है। इस बदलते परिप्रेक्ष्य में आज के छात्र को वहीं शिक्षक प्रिय है जो उन्हें उत्तमोत्तम उद्योग प्राप्ति कराने में सक्षम हो। आज शिक्षक, छात्र अधिकाधिक भौतिक सुविधाओं के होने को जीवन की सफलता का सूचक मानते हैं, जिसके कारण इनका संबंध भी केवल बाह्य तथा भौतिक है। आत्मीयता के लिए इस संबंध में अब कुछ विशेष नहीं दिखता।
- आज छात्रों में अंकों की अंधी दौड़ है, जिसका लाभ शिक्षक समूह के कुछ स्वार्थी लोग बखूबी छात्रों का शोषण करके उठा रहे हैं। आज वर्तमान समय में गुरु की परिभाषाएं बदल गई है। गुरु शिष्य संबंध की गरिमा का हास प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। आज प्रत्येक संबंध स्वार्थ पर टिका है। आवश्यकताओं पर आधारित है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्य निस्वार्थ, त्याग, प्रेम चरित्रनिर्माण की न्यूनता इन संबंधों में अब दिखाई पड़ती है।
- प्रतियोगिता के इस दौर में जहाँ विद्यालयों की शिक्षा के केंद्र में विद्यार्थी का अच्छे अंक लाना तथा किसी उच्च स्तर की शिक्षण संस्था में प्रवेश प्राप्त कराना ही है वहाँ गुरु शिष्य संबंध केवल सतही स्तर पर होकर ही रह गया है।
- शास्त्रों, संस्कारों, सद्विचारों से दूर होने से विद्यार्थी का मानसिक स्तर भी इतना परिपक्व न रहा किसे शिक्षक द्वारा दिए गए ज्ञान को जीवन भर स्वयं के हृदय में संजो सके।

### गुरु शिष्य संबंध को समुन्नत करने हेतु संभावनाएँ-

- आज शिक्षा शिक्षक केंद्रित न होकर छात्र केंद्रित है। अतः यह आवश्यक है कि आज का शिक्षक छात्र का प्रशिक्षक बनने के स्थान पर सौविध्यकर्ता(Facilitator) बने ताकि छात्र शिक्षक के मार्गदर्शन का उपयोग भलीभाँति कर सके। और इस तरह दोनों के मध्य सुदृढ़ संबंध होने की संभावना बन सके।
- वर्तमान में शिक्षक को एक मेंटर की भूमिका में रहना होगा जहाँ वे अपने जीवन के अनुभवों तथा ज्ञान को बिना किसी दबाव के छात्रों के साथ साझा करें। जिससे छात्र अनौपचारिक रूप से शिक्षा के अनुभवों से सीख कर उनसे आंतरिक रूप से जुड़ सकें।
- शिक्षक को छात्रों की उपलब्धियों के लिए प्रशंसा करनी चाहिए, इससे छात्रों का आत्मविश्वास बढ़ता है और वे अच्छा प्रदर्शन करते रहते हैं तथा संबंध भी सुदृढ़ होता है।
- शिक्षक को छात्रों की रुचियों और पृष्ठभूमि को समझना चाहिए, इसके लिए वह छात्रों से उनके जीवन और रुचियों के बारे में सवाल पूछ सकता है, वस्तुतः शिक्षक को मित्र की तरह व्यवहार करना चाहिए इससे अधिगम एक काम न होकर आनंद बन जाता है और छात्र भी रुचिपूर्व अपना काम करेंगे।

- आज अंतर्जाल के माध्यम से छात्र किसी भी विषय की सामग्री प्रचुर मात्रा में खोज सकता है, किंतु तथ्य परख प्रामाणिक सामग्री के संकलनार्थ मार्गदर्शन की आवश्यकता हेतु, शिक्षक के समीप जाना ही होगा। और इस तरह शिक्षक छात्र संबंध को सुदृढ़ करने का आधार प्राप्त हो सकता है।
- आज के दौर में अध्ययन सामग्री तो बहुत उपलब्ध है, किंतु सामग्री को पढ़ाने की रोचक विधि या तथ्य दृष्टांत, उदाहरण, कथा कहानियाँ इत्यादि का प्रयोग शिक्षकों प्रभावशील बनाते हैं। जैसा कि प्राचीन काल की शिक्षा में पंचतंत्र हितोपदेश जातक कथाओं इत्यादि की कहानियों के माध्यम से छात्रों को सुमति बनाया। अतः शिक्षण की कला सीखने हेतु शिक्षक के समीप जाकर शिक्षक के सान्निध्य में रहकर ही सीखा जाएगा। जो कि गुरु शिष्य संबंध के सुदृढ़ होने का आधार भी बनेगा।
- आज गुरु शिष्य में दायित्व निर्वहण की न्यूनता देखी जाती है। यही कारण है कि हमें चारित्रिक पतन के दृश्य समाज में बहुतायात में सुनने और देखने में आते हैं। अत्यावश्यक है कि हम अपने शिक्षा संस्कृति के अनुकरणीय उदाहरणों का स्मरण करें जो गुरु शिष्य के मिसाल थे, जिन्होंने इस ज्ञान परंपरा को आगे बढ़ाने में अपना सर्वस्व योगदान दिया। उनके उदाहरणों, दृष्टान्तों से गुरु शिष्य मिलकर कार्य करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करें जिससे यह संबंध दृढ़ हो सके।

### निष्कर्ष-

अन्ततोगत्वा निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग के उत्तर युग में यद्यपि उपरोक्त विचारों का स्वलन हुआ, तथापि उपनिषद् काल में इनके अनेक तत्व नए कलेवर में प्रस्तुत किए गए। किन्तु फिर भी कालांतर में, शिक्षाजगत् में गुरु-शिष्य सम्बन्ध, गुरु द्वारा दिया जाने वाला ज्ञान, भौतिक और आध्यात्मिक जगत की साम्यता का महत्त्व धीरे धीरे नगण्य होता चला गया। आज वर्तमान में शिक्षा प्रणाली सीमित अध्ययन व परीक्षा पद्धति में बंधी हुई है, जो सिर्फ अंकों के आकलन में विद्यार्थियों का मूल्यांकन करती है। आज छात्र गुरु के पास केवल उद्योग प्राप्ति हेतु अच्छे अंकों के प्राप्त करने के उपायों को जानने आता है। छात्र की दृष्टि में एक अच्छे गुरु की परिभाषा सिर्फ उसको एक अच्छी बढ़िया नौकरी दिलाने तक सीमित रह गई है। जिसके द्वारा वह संपूर्ण भौतिक जगत की सुख सुविधाओं को प्राप्त कर सके जिसका दुष्परिणाम यह है कि वे विद्यार्थी भौतिक सुख सुविधाओं से तो संपन्न हो जाते हैं किंतु व आत्मिक सुख से वंचित रह जाते हैं और इस तरह वे तनाव, निराशा, भगनाशा, द्वंद्व इत्यादि मानसिक चिंताओं से कभी मुक्त नहीं हो पाते। आज का शिक्षक विद्यार्थी के विविध आयामों का मूल्यांकन करने की बजाय उसे संसार की प्रतियोगी दौड़ का हिस्सा बनने पर जोर देता है। शिष्य की आत्मिक चेतना को ऊंचाइयों तक पहुंचाने की चर्चा आज की शिक्षा प्रणाली के पाठ्यक्रम में कहीं नहीं है। यही कारण है कि गुरु शिष्य को उसकी सही क्षमताओं और योग्यताओं से पहचान कराने में असक्षम रह जाता है। जिसकी वजह से छात्र नौकरी पाने में तो शायद कहीं सफल हो जाते हैं। किंतु उनके जीवन में सदैव अधूरापन बना रहता है। आज की शिक्षा प्रणाली केवल विद्यार्थी के अधूरे मूल्यांकन द्वारा उसका भविष्य अनिश्चित कर एक भयावह स्थिति को उत्पन्न करती है, जिसके परिणाम सुखद नहीं हो सकते। आज आवश्यकता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली का पुनरावलोकन हो। जहाँ भौतिक और आध्यात्मिक जगत की समता का अद्भुत संगम था, प्रासंगिक नूतन विचारों का समावेश था तथा जिनके माध्यम से वर्तमान भारत की विभिन्न प्रकार सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक समस्याओं से मुक्ति प्राप्त हो सके। इस प्रकार की शिक्षा पद्धति सतत् प्रयास व अनुसंधान से ही संभव है। तथा जिसके प्रति सकारात्मक मनोभाव से प्रयास करने की आवश्यकता है।

आज आवश्यकता है उन प्राचीन वैदिक आदर्शों को न केवल पुनरावृत्ति करने की बल्कि उनमें नित्य नवीन विचारों को शामिल करने की। मात्र राष्ट्रीय स्तर अथवा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर शिक्षक दिवस मनाने से आज की शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन आना संभव नहीं। इसके लिए अथक प्रयासों की आवश्यकता है जहाँ हम अपने प्राचीन काल के वैज्ञानिक ऋषि, मुनियों द्वारा दिखलाए मार्ग का अनुसरण प्रारंभ करें। इस प्रकार हम एक ऐसी शिक्षा पद्धति का विकास कर पाएंगे जो वर्तमान आधुनिक युग की संकटग्रस्त स्थिति का समाधान प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध हो। हमें पुनर्जागरण के लक्ष्य को सदैव स्मरण रखना होगा। जिसमें एक ऐसे भारत की कल्पना की गई है जो मानवता की आपात स्थिति और समस्याओं से मुक्ति दिला पाए। इस प्रकार की शिक्षा पद्धति का विकास सतत प्रयास, शोध और अनुसंधान से ही संभव है। हमें उसके प्रति आशान्वित होकर प्रयास करना होगा।

## सन्दर्भग्रन्थ-

- राष्ट्रीय शिक्षा नीति २०२४, शिक्षा मन्त्रालय।
- श्रीमद्भगवद्गीता , गीताप्रेस गोरखपुर
- ऋग्वेद, गीताप्रेस गोरखपुर।
- तैत्तिरीयपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर।
- बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर।
- शुक्ल, बलराम, भारतीय ज्ञान परम्परा का सातत्य तथा संवर्धन।
- सलूजा, चांदकिरण, शिक्षा-भारतीय परिप्रेक्ष्य, संस्कृत संवर्धन प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
- कठोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर।
- अथर्ववेद, गीताप्रेस गोरखपुर।
- अग्रवाल, जे.सी, शिक्षा का इतिहास।
- Atlekar, A.S, Education in Ancient India.

